International Journal of Advanced Academic Studies 2020; 2(4): 203-207

E-ISSN: 2706-8927
P-ISSN: 2706-8919
www.allstudyjournal.com
IJAAS 2020; 2(4): 203-207
Received: 04-08-2020
Accepted: 10-09-2020

डॉ॰ नरेश राम
स्नातकोत्तर इतिहास विभाग, ल॰ ना॰ मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा, बिहार, भारत

Corresponding Author:
डॉ॰ नरेश राम
स्नातकोत्तर इतिहास विभाग, ल॰ ना॰ मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा, बिहार, भारत

पूर्व मध्यकालीन भारत में धार्मिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमिः एक समीक्षा

डॉ॰ नरेश राम

सारांश
भारत में प्राचीन काल से ही अनेकानेक संप्रदायों, उपसंप्रदायों तथा धार्मिक मत–मतांतरों का उद्भव तथा विकास होता रहा है। इसमें से लगभग सभी संप्रदायों के मूल तत्त्व पर्याप्त प्राचीन काल तक जाते है। हड़प्पा तथा वैदिक परंपराओं के अतिरिक्त अनेक आदिम विश्वासी तथा कृत्यों द्वारा सिद्ध हो चुका है कि अनेक प्रकार के आचार–विचार, ब्राह्मण–धर्म अथवा हिंदू धर्म में विद्यमान रहे है। यद्यपि हमारा सर्वेक्षण काल धार्मिक दृष्टि से पर्याप्त महत्वपूर्ण रहा है तथापि हम उन्हीं तथ्यों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करेंगे जो इस काल में विकसित हुए अथवा जिन्होंने समाज तथा संस्कृति को विशेष रूप से प्रभावित किया है।
पूर्व मध्ययुगीन भारत में धार्मिक विकास की प्रक्रिया, पूर्व की शताब्दियों की कड़ी प्रतीत होती है, जिसकी पुर्रयना धार्मिक ग्रंथों, अभिलेखों, वास्तुकला और प्रतिमाओं के अवशेषों के आधार पर की जा सकती है। लोकप्रिय स्तर पर, मंदिरों में भक्ति उपासना और तीर्थाटन को प्रमुखता मिली। शिव, शक्ति और विष्णु से जुडे सम्प्रदाय अत्यधिक महत्त्वपूर्ण बन चुके थे। तांत्रिक उपासना पद्धति का प्रभाव हिंदू, बौद्ध और कुछ हद तक जैन परमपराओं पर भी पड़ रहा था। जहां हिंदू सम्प्रदाय संपूर्ण उपमहाद्वीप में फैले हुए थे, बौद्ध तथा जैन धर्म कुछ विशेष क्षेत्रों में संकुचित कहे जा सकते है। जैन धर्म का पश्चिम भारत और कर्नाटक में मजबूत पकड़ बना रहा, वहीं बौद्ध धर्म का सर्वाधिक प्रभाव पूर्वी भारत और कश्मीर पर रहा। प्राचीन नाग सम्प्रदायों का अस्तित्व कश्मीर के नीलमत नाग सम्प्रदाय जैसे रूप में देखा जा सकता है।

मुख्य शब्दः धार्मिक, परम्परा, विकास, अवशेष, संप्रदाय, मध्यकालीन

प्रस्तावना

कई पूर्व मध्ययुगीन स्थलों पर एकाधिक धार्मिक संरचनाएं बिल्कुल सटकर बनी हुई देखी जा सकती है। एलोरा इस संदर्भ में सबसे अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करता है (औरंगाबाद जिला, महाराष्ट्र)। यहां छठी सदी से ही शिल्पकारों के द्वारा दक्षिणी हिस्से में लावा के ब्लास्ट पत्थरों पर बौद्ध प्रतिमाएं तथा उत्तरी हिस्से में हिंदू प्रतिमाओं को उत्कीर्ण किया जा रहा था। एलोरा के मंदिर में शायद कैलाशनाथ मंदिर सर्वोत्कृट रचना है, जिसे 8वीं–9वीं सदी में निर्मित किया गया था। लगभग इसी समय उत्तरी हिस्सों में जैन प्रतिमा और संरचनाएं बनाई गई थी। इसी प्रकार बादामी (बागलकोट जिला, कर्नाटक) गुफाओं में हिंदू, बौद्ध और जैन प्रतिमाओं को सन्निकट की गुफाओं में देखा जा सकता है।

पूर्व मध्ययुग में ही उपमहाद्वीप में इस्लाम का प्रवेश हुआ। पश्चिम भारत के विभिन्न हिस्सों में अरब व्यापारियों के स्थायी रूप से बसने के संदर्भ उपलब्ध हैं। 13वीं शताब्दी से ऐसे पुरालेखीय तथा साहित्यिक प्रमाण उपलब्ध है, जो यह बतलाते हैं कि इन नगरों और बंदरगाहों में रहने वाली मुस्लिम जनसंख्या केवल अरब व्यापारियों या जहाजों के मालिकों की नहीं थी, बल्कि स्थानीय तेली और वास्तुकार मुस्लिम समुदायों का भी अस्तित्व था धनाढ्य व्यापारियों द्वारा मस्जिद बनवाने के अभिलेखीय प्रमाण भी पर्याप्त रूप से उपलब्ध हैं, किंतु दिल्ली सल्तनत की स्थापना के सदियों बाद महाद्वीप में मुस्लिम आबादी महत्त्वपूर्ण रूप से बढ़ी है।

धार्मिक संस्थानों को समाज के विविध तबकों का संरक्षण मिल रहा था। कुछ मंदिरों को दिया जाने वाला राजनीतिक संरक्षण, विशेषकर 10वीं सदी के पश्चात्, भव्य शाही मंदिरों का रूप ग्रहण करने लगा। दरअसल, क्षेत्रीय संस्कृतियों के अभ्युदय में धार्मिक संप्रदायों की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। क्षेत्रीयता को इन शताब्दियों तथा आने वाली शताब्दियों में स्पष्ट अस्तित्व प्राप्त होने लगा। उदाहरण के लिए, जैसा कि डेविड लॉरेन्जेन ने तर्क दिया है कि हिंदू अस्मिता ने मध्यकाल में स्वरूप ग्रहण किया, जिन काल में इस्लाम के साथ उसका सह–अस्तित्व रहा। चूँकि संपूर्ण उपमहाद्वीप के विभिन्न हिस्सों के धर्मिक इतिहासों का विस्तृत विवरण यहां प्रस्तुत किया जाना संभव नहीं है, इनमें से केवल कुछ का सार गर्भित संदर्भ दिया जा रहा है, जिसके बाद दक्षिण भारत में वैष्णव एवं शैव भक्ति के विकास का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

धार्मिक संप्रदायों का विकास

श्वैन जंग ने मगध क्षेत्र के कई विशाल और समृद्ध बौद्ध विहारों का वर्णन किया है, जिनमें नालंदा, तिलोदक तथा बोध गया के बिहार भी सम्मिलित हैं, किंतु दूसरी ओर, अन्य हिस्सों में जीर्ण–शीर्ण अवस्था में पड़े बौद्ध विहारों का भी उल्लेख किया है। इस चीनी यात्री ने नालंदा में योगाचार दर्शन की शिक्षा के लिए पांच वर्ष नालंदा में बिताए थे। यीजिंग ने भी बोध–गया और तिलोदक, नालंदा, बिहार की यात्राा की थी, जिसके विषय में उसने कहा कि वहां कोई 1000 बौद्ध भिक्षु निवास करते थे। श्वैन जंग ने समकालीन बौद्ध विहारों का सामान्य विवरण प्रस्तुत किया है। उसने इनकी उत्कृष्ट बनावटों की चर्चा की है तथा इनके प्रत्येक भाग में तीन मंजिले मीनारों के विषय में वर्णन किया है, दरवाजों–खिड़कियों के सघन चित्राांकन की चर्चा की है तथा उनके कम ऊंची दीवारों पर लिखा है। इन विहारों के मध्य में ऊचे और विशाल सभा कक्षों का भी उल्लेख है और साथ में कई मंजिलों वाले चैम्बरों, विभिन्न ऊंचाई वाले बुर्जों तथा पूर्व दिशा में खुलने वाले द्वारों का भी उल्लेख किया गया है। साहित्यिक स्रोतों तथा अभिलेखों में मध्ययुगीन विहारों की भौगोलिक स्थिति का विवरण मिलता है, तथा इनमें से कई विहारों के पुरावशेषों को चिन्हित भी किया जा चुका है।

सांची और भारहुत के बौद्ध विहार 12वीं–13वीं शताब्दियों तक फलते–फूलते रहे। चचनामा में उत्तर–पश्चिम के सिंध क्षेत्र में समृद्धशाली बौद्ध परंपरा का उल्लेख किया गया है। कश्मीर में श्रीनगर के जयेन्द्र विहार का तथा परिहास पुर के राजा विहार का 11वीं सदी में पतन हो चुका था, किंतु अनुपमपुरा के रत्नगुप्त विहार और रत्न–रश्मि विहार 11वीं और 12वीं शताब्दियों में भी अस्तित्व में रहे। बंगाल और बिहार के पाल, बौद्ध धर्म के संरक्षक थे। उनके राज्य में नालंदा, ओदन्तपुर (नालंदा के निकट) विक्रमशिला (मांगलपुर जिला बिहार में अंतिचक नामक स्थान से चिन्हित), तथा सोमपुरी (पहाड़पुर में स्थित) जैसे महाविहारों का उन्नयन काल था। इन केंद्रों के साथ तिब्बती बौद्ध भिक्षुओं का गहरा सम्बन्ध था। ओडिशा में ललितगिरि और रत्नागिरि से पूर्व मध्ययुगीन बौद्ध विहारों की स्थापना हुई थी। लद्दाख, लहुल और स्पीति में भीं इन अधिकांश संघीय केंद्रों में तात्रिक बौद्ध धर्म का वर्चस्व बना हुआ था।

पूर्व मध्यकाल की बौद्ध प्रतिमाओं की प्रतिमाशास्त्रीय विविधता, भक्ति अपासना की लोकप्रियता का संकेत देती है। शांतिदेवी (8वीं शताब्दी) के बोधिचयवितार में महायान उपासना और अनुष्ठानों का वर्णन किया गया है। मूर्ति की सुगंधित जल से नहलाना, भोग लगाना, पुष्पज तथा वस्त्र, हिलाने वाली धूपदानी, अगरबत्ती तथा गायन और वाद्य संगीत की प्रस्तुति, इनमें शामिल है। वल्लभी के मेत्रकों के दान अभिलेखों में धूप, दीप, तेल और पुष्पज के खर्च उठाने का उल्लेख है।

शैव संप्रदाय

अनेक कारणों से शैव मत अत्यंत लोकप्रिय रहा है। इनके अनेक संप्रदाय तथा उप–संप्रदाय थे जिनके अनुयायियों में अपने विशिष्ट दर्शन तथा चर्चा के आधर पर भिन्नता होने पर भी वे लोग रुद्र–शिव की सर्वोच्च शक्ति के रूज में उपासना करते थे। कश्मीरी शैवमत के अनुसार व्यक्ति की आत्मा तथा शिव एक ही हैं। समस्त सांसारिक विविधता परिवर्तनशीलता के कारण है। आत्मा को शिव में लीन करना शुद्ध चैतन्य तथा परासवित अर्थात परम अनुभूति (मोक्ष) है। क्सुगुप्त, कल्लद, सोमानंद, उत्पल्ल, रामकंठ आदि इन संप्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य थे। वीरशैव मत भी अनेक प्रांतों में पर्याप्त लोकप्रिय था।

इसके अतिरिक्त पाशुपत, कापालिक, कलामुख अघोरी, लिंगायत् शिवाद्वैत आदि अनेक उप–संप्रदाय विद्यमान थे। इनमें पाशुपत संप्रदाय अधिक लोकप्रिय था। पाशुपत दो प्रकार के थे (1) भ्रौत (वैदिक) पाशुपत जो वैदिक परंपरा के अनुकूल था, (2) अभौत (लौकिक) पाशुपत जो वैदिक परंपरा के विरूद्ध था। माधवाचार्य के 'सर्वदर्शन संग्रह' में लाकुलिश पाशुपत के प्राचीन काल से प्रचलित अनेक असमान्य ढंगों की चर्चा तथा उपचर्या का वर्णन है। कापालिकों में भी नरबलि प्रथा थी। इनमें कपाल धारण करना तथा कपाल (खोपड़) में भोजन आदि ग्रहण करने की आदिम भयावह परंपरा थी। सुप्रसिद्ध शंकराचार्य ने उज्जयिनी में कापालिकों के एक वर्ग को वैदिक परंपरा के अनुरूप बनाने का प्रयास किया था।

वैष्णव संप्रदाय

गुप्त काल में वैष्णव संप्रदाय लगभग संपूर्ण भारतवर्ष में प्रसारित हो चुका था। महाभारत तथा पुराणों आदि ग्रंथो में विष्णु–नारायण की उपासना का भागवत संप्रदाय से एकीकरण होने के कारण वैष्णव धर्म की विशेष लोकप्रियता प्राप्त हुई। गीता के आधर पर विकसित 'प्रापत्ति' (विष्णु–कृष्ण–नारायण के प्रति पूर्ण समर्पण) ईश्वर के 'प्रसाद' द्वारा मुक्ति प्राप्त होने होने के भक्ति मांगी सिद्धांत की रामभक्ति शाखा के रूप में और अधिक प्रचारित–प्रसारित किया गया। यह संप्रदाय 'श्रीवैष्णव' नाम से प्रसिद्ध हुआ जिसमें व्यक्ति द्वारा अपने सारे कर्मफल त्यागने पर बल दिया गया। यह भक्तिमूलक प्रपत्तिवाद का सिद्धांत आचार्य शंकर के आद्वैतवादी ज्ञानी मार्ग तथा शबर स्वामी, कुमारिल और मंडन मिश्र के कर्मकाड की तुष्टि के विपरीत था। किन्तु वैष्णव धर्म की रासलीला का बड़ा महत्व था। प्रेम–भावना के प्रचार में कृष्ण लीला का भारत के अनेक क्षेत्रों में प्रभाव पड़ा। भगवत पुराण ब्रह्मवैवर्त पुराण तथा गीत गोविंद में कृष्ण की लीलाओं को प्रेम तथा दर्शन दोनों संदर्भों में विशद रूप से वर्णित किया गया है।

सभी वैष्णव संप्रदायों को राजा, महाराजा, वैश्व वर्ग तथा अन्य धनाद्य लोगों का संरक्षण प्राप्त होता रहा है। शिव के विपरीत विष्णु 'सात्त्विक' देवता है। विष्णु तथा उनके अवतारों के प्रतीक–लक्ष्य आदि से स्पष्ट होता है कि इस संप्रदाय का संबंध उच्च वर्ग से अधिक था किंतु भक्ति–आंदोलन के कारण यह जनसाधरण में भी प्रतिष्ठित होता गया है।

शैवमत की भांति ही वैष्णव में भी पारंपरिक लौकिक तत्वों के सम्मिश्रण के कारण अनेक शैवागम तथा वैष्णवगम ग्रंथों की रचना हुई। यह आगम (लौकिक) परंपरा निगम (वैदिक) परंपरा के अनेक संदर्भों में भिन्न थी। फिर भी इन ग्रंथों में ब्राह्मण आचार्यों द्वारा आगम–परंपरा को भी वैदिक रूप देने का प्रयास स्पष्ट परिलक्षित होता है। हमें ध्यान में रखना होगा कि ये आगम ग्रंथ तत्कालीन सामाजिक तथा धार्मिक जीवन के ज्ञान के लिए बहुमूल्य स्रोत है।

तांत्रिक संप्रदाय

गुप्त काल तक शक्ति की उपासना पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो चुकी थी। पार्वती, दुर्गा, लक्ष्मी, श्रीकाली, कराली आदि अनेक रूपों में शक्ति की उपासना प्रचलित थी। किंतु तांत्रिक धर्म के अनेक तत्व अत्यंत प्राचीन काल से जनसाधरण में प्रचलित थे, जिनका कुरू रूपज अथर्ववेद में भी संकेतित है। सातवी शताब्दी से तांत्रिक साधना का विकास व्यापक रूप में हुआ और हमारे अध्ययन काल के वाममार्गी तांत्रिक साधना का लगभग संपूर्ण भारत में उत्कर्ष हुआ। कश्मीर, पंजाब, नेपाल, कामरूप, बंगाल, उड़ीसा, मध्य भारत तथा दक्षिण भारत में यह अत्यंत लोकप्रिय था। पर्वतीय क्षेत्रों में इसके विशिष्ट केंद्र थे।

इस वाममार्गी संप्रदाय से 'तंत्र' (ज्ञान का विस्तार), 'यंत्र' (रहस्यमय चक्रों पर ध्यान करना) तथा मंत्रा का विशेष महत्व था। इससे शक्ति की सर्वोच्च प्रतिष्ठा है जिससे सभी जीव देवता तथ संपूर्ण ब्रह्मड की उत्पत्ति होने का सिद्धांत मान्य है। तांत्रिक

साधना के अंतर्गत ध्यान–योग, (पूजा) तथा चर्या (अनेक प्रकार के आचार) की व्यवस्था है। ध्यान के लिए 'श्रीचक्र', 'भैरवीचक्र' आदि मंत्रों की योजना थी। गुरु की दीक्षा तथा कठोर मानसिक नियंत्रण द्वारा पंचमकार (पंचतत्व–मद्य, मत्स्य, मांस, मुद्रा तथा मैथुन) की साधना द्वारा मुक्ति प्राप्त होती है। किंतु पंचमकार संबंधी साधना साधारण उपासक के लिए वर्जित थी। इसकी अनुमति केवल उच्च स्तर पर पहुंचे हुए वीर साधक के लिए ही थी। मुक्ति के तीन 'भाव' या चरण थे। प्रथम पशु अर्थात साधारण साधक, दूसरे वीर तथा तीसरा दिव्य जो संसार की द्वैत स्थिति से उपराम होकर मुक्त हो जाता है।

तांत्रिक धर्म मूल रूप से जाति–वर्ण के बंधन से मुक्त था किंतु अनेक ग्रंथों (जैसे लगभग अठारहवीं शताब्दी के महानिर्णाणतंत्र) में वर्णगत वर्गीकरण तथा वैदिक परंपरा को स्वीकार किया गया है। ऐसा ब्राह्मणों द्वारा तांत्रिक–साधना को उच्च वर्गों के लिए स्वीकार्य बनाने के प्रयास के कारण संभव हुआ होगा।

तांत्रिक साहित्य का बहुत बड़ भंडार अभी अप्रकाशित है। अनेक वाममार्गी तांत्रिाक ग्रंथो की योजना तथा सामग्री पुराणों के अनुरूप है। दूसरी ओर अथर्ववेद, महाभारत, रामायण, पुराण आदि अनेक वैदिक परंपरा के ग्रंथों में स्पष्ट तांत्रिक प्रभाव प्राप्त होते है। हमारे काल में मूर्तिकला स्थापत्यकला तथा चित्रकला पर तांत्रिक साधना का व्यापक तथा गहरा प्रभाव है। साथ ही अनेक शैव समुदायों, कुछ सीमा तक भागवत (वैष्णव) संप्रदाय तथा बौद्ध धर्म को भी इसने प्रभावित किया है।

शैव, वैष्णव, शाक्त आदि संप्रदायों में मत–मतांतर तथा सैद्धांतिक संघर्ष अवश्य थे किंतु धर्मिक व्यवस्थाकारों द्वारा इन सभी संप्रदायों में समन्वय लाने का प्रयास स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। कट्टरपंथी संप्रदाय विशेष के अनुयायियों को छोड़कर सर्वसाधरण लोग सभी देवी–देवताओं की पूजा–अर्चना समान भाव से करते थे।

इसके अतिरिक्त इस काल में अनेकानेक देवी–देवताओं की उपासना प्रचलित थी जो शैव या वैष्णव धर्म से संबंद्ध थे। गणेश, कार्तिकेय, भैरव, नंदी, पार्वती, उमा आदि शैव परिवार तथा मत्स्य, वराह, वामन, मोहनी, नृसिंह, राम, परशुराम, कच्छप, कृष्ण आदि विष्णु के अवतारों में सम्मिलित थे। तांत्रिक साधना में भी अनेक देवियां थी। गंगा–यमुना सूर्य आदि नवग्रह की उपासना भी प्रचलित थी।

बौद्ध धर्म

हर्षवर्धन द्वार बौद्ध धर्म को प्रोत्साहन देने के बावजूद ह्वेनसांग ने अनेक प्रसिद्ध बौद्ध केंद्रों को ह्रासोन्मुख पाया था। पांचवी शताब्दी के लगभग पुराणों में बुद्ध को विष्णु का अवतार मान लिया गया था। महायान संपद्राय ने इन काल के प्रारंभ तक अनेक स्मृति–पौराणिक कर्मकांडो, विधि–विधानों तथा पूजा–अर्चना को अपना लिया। बौद्ध आचार्यों ने इस धर्म को लोकप्रिय बनाने के लिए हिंदू धर्म की होड़ में अनेक लौकिक तत्वों को अपने में समाहित कर लिया था। धीरे–धीरे महायान संप्रदाय तथा स्मार्त–पौराणिक हिंदू धर्म का अंतर कम होता गया। साथ ही तांत्रिक साधना के प्रभाव से बौद्ध धर्म में वज्रयान संप्रदाय का आविर्भाव हुआ जिसमें अनेक प्रकार के अवलोकितेश्वर तथा तारा की उपासना की जाती थी। तांत्रिक प्रभाव के कारण बौद्ध संघ (मठ) जो कभी इन धर्म के प्राणभूत आदर्शय केंद्र थे, अब समाज में अप्रतिष्ठित होने लगे। शंकराचार्य के दिगिवजय का आघात भी बौद्ध पर बड़ा कठोर सिद्ध हुआ। ग्यारहवी तथा बारहवीं शताब्दियों में तुर्की आक्रमण के क्रम में अनेक बौद्ध मठ नष्टप्राय हो गए। इस प्रकार के अनेकानेक ऐतिहासिक कारणों से बौद्ध धर्म का स्वतंत्र अस्तित्व भारत में लगभग मिट सा गया किंतु कश्मीर, बंगाल तथा दक्षिण भारत में इसके अनेक केंद्र थे। कश्मीर में सर्वज्ञामित्र ने आठवीं शताब्दी में स्तोत्र, स्तव तथा क्रिया को बौद्ध धर्म में प्रचलित किया। बंगाल में पाल वंश के शासकों ने बौद्ध धर्म को प्रोत्साहन दिया जिससे सामान्य जन में यह लोकप्रिय होता गया।

जैन धर्म

कठोर रूप से अहिंसावादी जैन धर्म अनेक ऐतिहासिक तथा अपनी आंतरिक शक्तियों के कारण भारतीय समाज में अपना अस्तित्व बनाए रख सका। जैन धर्म ने प्रारंभ से ही वैदिक धर्म के प्रति उग्र रूप नहीं अपनाया। इसने वैदिक धर्म के विधि–विधान विशेष रूप से अनेक गृह संस्कारों को अंगीकृत कर लिया। संभव है बौद्ध धर्म के विपरीत जैन धर्म में आत्मा की परिकल्पना जनसमुदाय को अधिक स्वीकार्य रही हो। जैन धर्म को वाणिक तथा व्यापारी वर्ग के संरक्षण से बड़ी शक्ति प्राप्त हुई। साथ ही अनेक शासकों ने भी इसे प्रोत्साहित किया। तांत्रिक साधना के प्रभाव से सर्वथा मुक्त रहने के कारण भी जैन धर्म की प्रतिष्ठा समाज में बनी रही। फिर भी अनवरत युद्ध से ग्रस्त राजपूतकालीन समाज में जैन धर्म को अधिक राजाश्रय नहीं प्राप्त हो सका। फिर भी, उसे गुजरात के चालुक्य तथा कुछ परमार शासकों से प्रोत्साहन मिला।

संस्कृत प्राकृत, कन्नड़ आदि भाषाओं में जैन आचार्यों ने अनेक ग्रंथों की रचना की। इस काल में राजस्थान, आबू के पर्वतीय क्षेत्र, बिहार, उड़ीसा, मध्य भारत तथा गुजरात में जैन मंदिरों के निर्माण से भारतीय स्थापत्य–कला समृद्ध तथा समुन्नत हुई है।

पारसी धर्म

ईरान का सासानी शासक यज्दागेर्द तृतीय (637–641 ई॰) इस्लाम के अनुयायियों द्वारा हराया गया। यह ईरान के प्राचीन जरथुस्त्र–धर्म को मानने वाले शासक थे। इस्लाम के प्रचार की प्रक्रिया से बचने के लिए अनेक पारसी लोग पश्चिमी भारत में संजान तथा बंबई में आकर (संभवतः दसवीं तथा ग्यारहवीं शताब्दी में) बस गए। शिलाहार राजाओं ने इन्हें संरक्षण प्रदान किया। पारसी लोग यहां अपना अलग धार्मिक अस्तित्व बनाए रखने में सफल तो रहे, किंतु इन लोगों ने यहां धर्मपरिवर्तन या धर्मप्रसार का कोई प्रयास नहीं किया। ये व्यापार तथा उद्योग में विशेष रूप से धनाढ्य वर्ग की श्रेणी में प्रतिष्ठित हुए। परवर्ती कालों में अनेक कोणों से पारसी लोग भारतीय समाज के अविभाज्य अंग बन गए।

इस्लाम

आठवीं शताब्दी के प्रारंभ में अरबों द्वारा सिंध की विजय का राजनीतिक महत्व तो काई खास नहीं है, किंतु अरबों का शासन इन क्षेत्र में तूर्कों के आगमन तक बना रहा। इससे कुछ सीमा तक इस्लाम का प्रसार–प्रचार संभव हुआ। तुर्क लोगों के आगमन के पहले दक्कन में राष्ट्रकूटों ने भी अरब व्यापारियों को अनेक धार्मिक सुविधाएं दी थी।

महमूद गजनवी के आक्रमण तथा पंजाब विजय के बाद इस्लाम के प्रचार के तौर–तरीके में अंतर आ गया। अनेक सूफी संत वहां के जीवन को प्रभावित करने लगे। यह सही बात है कि उन्हें तुर्की शासकों का प्रोत्साहन भी प्राप्त होता था। लाहौर के शेख हरमाईल, शेख अली बिन उस्मान, अल हुज्वैरी (ग्यारहवीं शताब्दी) सैयद अहमद सुल्तान सखी राखर (बारहवीं शताब्दी) में पंजाब तथा सिंध के शासकों (विशेष रूप से मुसलमानों को बड़ा प्रभावित किया। इनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध थे अजमेर के ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती (बारहवीं शताब्दी) जो ईरान से भारत आए थे। कुतुबद्दीन बख्तियार काकी इनके शिष्य थे। इस सूफी संतों ने भारत में इस्लाम के प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इन संतों का जीवन आदर्शमय तथा सादा था पवित्र विचार वाले इन संतों को

सूफी कहा जाता था। इसका प्रधान कारणयही रहा कि इनका जीवन एमदम पाक था। इनमें अद्भुत चमत्कार की लोकमान्यता से संप्रदाय के लोग इनसे प्रभावित होते थे। उत्तरी भारत में सुहरावर्दी तथा चिश्ती संप्रदाय का व्यापक प्रभाव था। इन उदार संतों ने भारतीयता के अनेक तत्वों को बेझिझक होकर ग्रहण कर लिया। अनेक भारतरीय तत्व अपनाने के कारण चिश्ती सिलसिला विशेष रूप से लोकप्रिय हुआ।

सांस्कृतिक विकास

इस काल में संस्कृत साहित्य के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रीय भाषाओं का पर्याप्त विकास हुआ। संस्कृत के भाषागत परिष्कार तथा उच्च कोटि की रचनाओं के कारण यह केवल पंडित वर्ग तक ही न्यूनाधिक मात्रा में सीमित होती चली गई। साथ ही अधिकांश संस्कृत रचनाओं में रूढ परिपाटी के कारण मौलिकता का अभाव है। राजाश्रय प्राप्त होने के अतिरिक्त इस काल के भोज, यशपाल, सोमेश्वर, कुलशेखर, रविवर्मन, विग्रहराज, बल्लाल सेन, श्रीहर्ष (नैषधचरित महाकाव्य) आदि अनेक राजा–महाराजाओं ने महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की।

इस काल में महाकाव्य, ललित काव्य, नाटक, उपदेशात्मक कथाएँ शब्दकोश संबंधी रचना, व्याकरण, काव्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र, छंदशास्त्र, चिकित्साशास्त्र, धर्मशास्त्र, स्मृति, स्मृतियों पर भाष्य, पुराण, इतिहासपरक साहित्य आदि अनेक विधाओं में विषयगत विविधता को लेकर रचनाएँ हुई है, पर यहां उनका संक्षिप्त परिचय देना ही उचित होगा।

बौद्ध कवि शिवस्वामिन् ने कप्पहणअभ्युदय जैन जिनसेन ने पार्शअभ्युदय, कनकसेन ने यशोधराचरित काव्यों की रचना की है। अभिनंद ने रामचरित तथा वासुदेव ने युधिष्ठर विजय, त्रिपुरदहन आदि महाकाव्यों की रचना की। भारत मंजरी, रामायण मंजरी आदि कश्मीर के क्षेमेंद्र द्वारा रचित है। इस काल में काव्य की कथाओं के आधार रामायण, महाभारत तथा पौराणिक आख्यान है। ग्यारहवी शताब्दी से श्लोष काव्य की विशिष्ट परंपरा दृष्टिगत होने लगती है। सन्याकर नंदी के रामचरित में राम तथा बंगाल के शासक रामपाल का श्लेष के आधर पर एक ही साथ वर्णन किया गया है। धनंजय, श्रुतकीर्ति ने राघव–पांडवीय वा द्विसंधान लिखकर एक और नवीनता प्रस्तुत की। इसमें बाएं से दाएं पजढ़ने पर राम की तथा दाएं से बाएं पढ़ने पर कौरवों की कथा वर्णित है। इन शैली में आगे और भी रचनाएं हुईं ओडेवदेव, वादिभ सिंह, अभयदेव, अमरचंद, मुनिरत्न आदि अनेक जैन आचार्यों ने अपनी रचनाओं द्वारा संस्कृत को समृद्ध किया। दसवीं शताब्दी में चंपू (गंद्य–पद्य मिश्रित रचना) नामक नई शैली का प्रादुर्भाव हुआ। जिसमें गद्य तथा पद्य दोनों का प्रयोग होता है। त्रिक्रिम भट्ट द्वारा रचित नलचंपू अथवा दमयंती कथा तथा नदालसा चंपु इसके प्रमुख उदाहरण है। इसी विशिष्ट परंपरा में सोमदेव ने यशस्तिलक चंपू की रचना की है।

ललित काव्य की रचनाएं भी पर्याप्त मात्रा में है। जयदेव ने बहुप्रसिद्ध गीत गोविंद की रचना की। कृष्ण तथा राधा के प्रणय को मौलिकता तथा सरलता से प्रस्तुत करने के कारण विद्वानों ने इसे भावप्रधन नाटक भी कहा है।

इस काव्य के प्रारंभ में ही विशाखदत्त द्वारा एक राजनीतिक नाटक मुद्राराक्षस की रचना की गई है। रामचंद्र तथा गुणचंद्र के शास्त्रीय ग्रंथ नाट्य दर्पण में देवी–चंद्रगुप्तम् के भी कुछ अंश प्राप्त होते है। मुरारी ने अनर्घ रावत में सशक्त भाषा का प्रयोग किया है। मुद्राराक्षस के ऐतिहासिक कथानक पर भीम या भमट ने प्रतिभा चाणक्य नामक नाटक लिखा है। जैन विद्वान हस्तिमल्ल ने विक्रांतकौरद तथा सुभद्राहरण आदि आठ नाटकों की रचना भी इसी काल में की है। बाल रामायण, बाल भारत आदि नाटकों की रचना चौहान वंश की अवंतिसुदरी से विवाह करने वाले प्रसिद्ध कवि राजशेखर ने की है।

उपदेशात्मक रचनाओं में मल्लअ शतक तथा नीति – वाक्यमृत की रचना का ध्यान देने की प्रमुख बात यह है कि इस कोटि की अनेक रचनाएं हैं।

इस काल की अनेक शब्दकोश रचनाएँ प्रसिद्ध है, जैसे आयुर्वे पर धन्वन्तरि, निंघटु, हलायुध का अभिधन रत्नमाला, मैत्रेयरक्षित का पाणिनि के धतुपाठ पर धतु–प्रदीप, शकटावन का शब्दानुशासन, यादवप्रकाश का बैजयेती आदि। प्रसिद्ध जैन विद्वान हेमचंद्र ने भी इस प्रकार के गंथो की रचना की। व्याकरण–संबंधी रचनाओं में श्रीर–स्वामिन का पाणिनि पर धतुवृत्ति, कैयद के महाभाष्य पर टीका, हरदत्त की काशिकावृत्ति पर पदमंजरी उल्लेखनीय है।

काव्यशास्त्र के क्षेत्र में यह काल बड़ा ही समृद्ध रहा है। अलंकार, रीति, ध्वनि, वकोक्ति रस आदि पर उद्भट का काव्यालंकार संग्रह, वामन का काव्यालंकार सूत्रा, रुद्रट का है। रुद्रभट्ट, प्रतीकारेद्र राज, भट्टनायक, महिम भट्ट आदि ने काव्यशास्त्र की अनेक समस्याओं पर प्रसिद्ध ग्रंथों की रचना की। राजशेखर की काव्यमीमांशा तथा उस पर अभिनवगुप्त की व्याख्या सर्वविदित ग्रंथ है। आचार्य मम्मट के काव्यकाल में पूर्ववर्ती काव्य सिद्धांतों की गहन तथा गीरि मीमांसा की गई है। इस विषय में भोज का सरस्वतीकंठाभरण भी महत्वपूर्ण रचना है। नाट्यशास्त्र पर भी अनेक ग्रंथों की रचनाएं हुई है जिनमें धनंजय का दशरूपक सांगरनदिन का नाटक रत्नकोश, रामचंद्र का नाट्यदर्पण उल्लेखनीय है।

चिकित्साशास्त्राक में माधवकर ने रोगविनिश्चय लिखकर अनेक रोगों के लक्षत तथा उनके निवारण की विशद व्याख्या की है। धन्वतरि के निघटुं तथा नागार्जुन के रस–रत्कार प्रसिद्ध ग्रंथ है। बंगाल के चक्रपाणिदत्त ने घरक तथा सुश्रुत पर भाष्य प्रस्तुत किया। इसी लेखक का चिकित्साशास्त्र नामक ग्रंथ पर्याप्त प्रसिद्ध रहा। जिसमें भस्म तैयार करने के नवीन तथ्यों का समावेश है। सुरेश्वर ने लौह प्रयोग विधि पर लौहपद्धति की रचना की। भोज के आलिहान्न में घोड़े की बीमारियों तथा चिकित्सा का विश्लेषण है। इस प्रकार इस काल में चिकितशास्त्र के क्षेत्रा में पर्याप्त उन्नती के संकेत मिलते है।

गणित तथा ज्योतिष पर गणितसार, वृहन्मानस, आर्यसिद्धांत, कर्णतिलक, त्रियांति, सिद्धांत शिरोमणि, राजमृणांक आदि ग्रंथों की रचना हुई हैं।

संगीत के क्षेत्र में नारद का संगीतपंकरानंद जगदेवमल्ल का संगीतचूड़ामणि, सोमेश्वर का मानसोल्लास, शाई देव का संगीतरत्नाकर आदि रचनाएं प्रसिद्ध रही है।

मनुस्मृति तथा याज्ञकल्वय पर अनेक सुप्रसिद्ध भाष्यों की चर्चा की जा चुकी है। लघु स्मृतियों के अलावा धर्मशास्त्रों पर निषेध तथा संकल्पन प्राप्त होते है जिनसे हम तत्कालीन सामाजिक, धर्मिक तथा राजनीतिक व्यवस्था का ज्ञान प्राप्त कर सकते है। किंतु राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में अर्थशास्त्र जेसे महत्वपूर्ण ग्रंथ इस काल में नहीं लिखे गए। हेमचंद्र ने लहद–अर्हन्नीति में युद्ध, दंड, धर्म तथा प्रायश्चित का संक्षिप्त विवेचन किया है। संभवतः राजा भोज का युक्तिकल्पतरू चडेश्वर का नीतिरत्नाकर के अतिरिक्त शुकनीतिसार भी महत्वपूर्ण ग्रंथ कहा जा सकता है। इस काल में सांस्कृति परिवर्तनों से संबंधित युगीन मान्यताओं को शास्त्रीय आधार देने के लिए पुराणों में अनेक नए अध्याय जोड़े गए। आर. सी. हजरा के अनुसार दसवीं शताब्दी के वराहपुराण में तीर्थ, दीक्षा, प्रायश्चित श्राद्ध, कर्मविपाक, दान तथा स्त्री धर्म विषयक सामग्री को नए ढंग से विवेचित किया गया है। वायु मत्स्य, पदम् ब्रह्मवैवर्त, गरुड़, अग्नि लिंग पुराणों में भी युगीन सांस्कृतिक महत्व की सामग्री मिलती है। जब कि ऐसा प्रतीत होता है कि वायु म्त्स्य आदि पुराण प्राचीन काल की रचनाएं है। किंतु वर्णाथमधर्म, युगधर्म स्त्रीधर्म, ब्राह्मण का महिमा–वर्णन, शालग्राम,

तुलसी कर्म, ग्रहों आदि विषयों पर रचित अध्याय इसी काल के है। इस मत को पर्याप्त प्रमाणों से विद्वानों ने मान भी लिया है। इतिहासपरक रचनाओं में पुराणों के बाद रचित लेखन की परिपाटी व्यवहार में आई है। बाणभट्ट के हर्षचरित में भी काव्यतत्व की प्रमुखता है। पद्मगुप्त का नवसाहसांक चरित (मालवा के सिंधुराज के जीवन पर) भी मिथक तथा काव्यमयता से मुक्त नहीं है। बिल्हण के विक्रमाकदेवचरित में अनेक त्रुटियों के बावजूद घटनाओं का विवरण सत्यता के अधिक निकट है। कल्हण की राजतरंगिणी (बाहरवीं शताब्दी) काश्मीर के शासकों का इतिहास अधिक गंभीरता से प्रस्तुत करती है। कल्हण ने अपने पूर्ववर्ती विविध प्रकार के ग्रंथों तथा स्रोतों का आलोचनात्मक परीक्षण करके उनका उपयोग किया है। अनेक परम्परगत दोष होते हुए भी राजतरंगिणी का विवरण अधिक विश्वसनीय तथा आधुनिक इतिहास लेखन की श्रेणी में आता है। क्षेमेंद्र का कुमारपालचरित चंदरदाई का पृथ्वीराजरासो आदि अनेक इतिहापरक ग्रंथ इसी काल में निर्मित हुए है।

निष्कर्ष

साहित्य को समाज का दर्पण कहा जाता है। किन्तु यदि हम यथार्थवादी एवं व्यापक दृष्टि से साहित्य का मूल्यांकन करे तो हमें अनुभव होगा कि ऊपर के कथन से साहित्य की बहुत सीमित भूमिका ही स्पष्ट होती है। यथार्थ के धरातल पर साहित्य की भूमिका इतिहास की ही भांति व्यपक होती है और साहित्य को समाजा का दर्पण नहीं, वरन संपूर्ण इतिहास या दुर्ग–विशेष (जिसमें साहित्य विशेष की रचना की गई) का प्रतिबिंब कहना अधिक उचित है। इतिहासकार के रूप में आज जब हम किसी युग की साहित्य का मूल्यांकन करते है तो हमारा मुख्य मापदंड यह होता है कि वह यथार्थ के साथ कितना जुड़ा हुआ है। इस मान्यता का कारण यह है कि साहित्य केवल समाजिक मूल्यों को ही ग्रहण नहीं करता, वरन उसका संबंध अतीत की यथार्थ परिस्थितियों व घटनाओं से भी होता है। अतः प्रत्येक देश, प्रदेश या मूल्य विशेष स्थिति परिस्थिति, घटना, प्रक्रिया व प्रवृत्ति के किसी न किसी रूप के साहित्य में हमें दर्शन अवश्य हो जाते है। यदि साहित्य की इतनी व्यपक भूमिका न होती तो हमें प्राचीन और पूर्व–मध्यकालीन भारतीय इतिहास के अध्ययन में बहुत कठिनाई का सामना करना पड़ता। प्राचीन एवं पूर्व–मध्यकालीन भारतीय इतिहास का बहुत कुछ अंश हमने साहित्य से ही ग्रहण किया है। इस प्रकार साहित्य का भाषा एवं साहित्य के विकास की दृष्टि से चाहे जो भी महत्व हो समकालीन समाज, धर्म, एवं संस्कृति के अध्ययन की दृष्टि से चाहे जो भी महत्व हो, समकालीन समाज धर्म एवं संस्कृति के अध्ययन की दृष्टि से साहित्य इतिहास रचना में बहुमुखी भूमिका का निर्वाह करता है।

संदर्भः

1. डेयल, जॉन एस. 1990ः द मोनेट्री हिस्टी ऑफ अर्ली मेडाइवल नोर्थ इंडिया, देहली, ऑक्सफोर्ड यूर्निवसिटी प्रेस
2. ळरमन कुलले, त्रिपाठी, 1978ः द कल्ट ऑपफ जगन्नाथ एंड द रिजनल ट्रेडिसन ऑफ ओडिसा, नई दिल्ली, मनोहर प्रकाशन
3. गोयल, एस. आर. 1986ः हर्ष एवं बुद्धिज्म, मेरठ, कुसुमांजलि प्रकाशन
4. हंटिगटन, सुनान, 1985ः द आर्ट ऑफ एनसियेन्ट इंडियाः बुद्धिष्ट, हिन्दु, जेन न्यूयार्क प्रकाशन
5. जैन, वी. के. 1990ः ट्रेड एण्ड ट्रेडर्स इन वेर्स्टन इंडियाः नई दिल्ली मनोहर लाल प्रकाशन
6. करिश्मा, नोबोरू, 1984, साउथ इंडियन हिस्ट्री एवं सोसाइटीः स्टटीज फ्रोम इन्सक्रिप्सन, ए. डी. 850–1200, दिल्ली, ऑक्सफोर्ड प्रकाशन
7. लाहिटी, नयनजोत, 1991ः स्टडीज इन इन्सक्रीपसन ऑपफ आसाम बिटबिन द फिफ्त एवं यर्रीन सेन्टूरीः नई दिल्ली, मनोहर लाल प्रकाशन
8. माथुर, आशुतोष दयाल, 2007, मेडाइवल हिन्दु लॉ, हिस्टोरिकल इवोलुसन एण्ड रिबेलियन, नई दिल्ली, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस